जिज्ञासाएँ और समाधान

प्रतिक्रमण विशेषाङ्क के प्रकाशन के पूर्व हमने प्रतिक्रमण विषयक प्रश्न/जिज्ञासाएँ आमन्त्रित की थीं। हमें श्री पारसमल जी चण्डालिया-ब्यावर, श्री मनोहरलाल जी जैन-धार (म.प्र.), श्री जशकरण जी डागा-टोंक आदि से जिज्ञासाएँ प्राप्त हुईं, जिनका समाधान गुरुकृपा से यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। -*सम्पादक*

जिज्ञासा- आवश्यकसूत्र को अंगबाह्य माना जाता है तो यह गणधरकृत है या स्थविरकृत? स्थविरकृत मानने में बाधा है, क्योंकि स्वयं गणधर आवश्यक करते हैं। यदि गणधर कृत मानें तो अंग प्रविष्ट में स्थान क्यों नहीं दिया?

समाधान- प्रश्न के समुचित समाधान के लिये हमें अंग प्रविष्ट व अंग बाह्य की भेद रेखा (विभाजन रेखा) को देखना होगा-

गणहर थेरकयं वा आएसा मुक्क- वागरणाओ वा।
धुव चलविसेस ओ वा अंगाणंगेसु नाणत्तं॥ -विशेषावश्यक भाष्य गाथा, ५५२

इसमें तीन अन्तर बताए गए-

१. अंगप्रविष्ट गणधरकृत होते हैं, जबकि अंग बाह्य स्थविरकृत अथवा आचार्यों द्वारा रचित होते हैं।

२. अंगप्रविष्ट में जिज्ञासा प्रस्तुत करने पर तीर्थंकरों द्वारा समाधान (और गणधरों द्वारा सूत्र रचना) किया जाता है, जबकि अंग बाह्य में जिज्ञासा प्रस्तुत किए बिना ही तीर्थंकरों के द्वारा प्रतिपादन होता है।

३. अंगप्रविष्ट ध्रुव होता है, जबकि अंगबाह्य चल होता है।

अंगप्रविष्ट में तीनों बातें लागू होती हैं और एक भी कमी होने पर वह अंग बाह्य (अनंग प्रविष्ट) कहलाता है। पूर्वों में से निर्यूढ दशवैकालिक, ३ छेद सूत्र, प्रज्ञापना, अनुयोगद्वार सूत्र, नन्दी सूत्र आदि भी तीर्थंकरों की वाणी गणधरों द्वारा ही सूत्र निबद्ध है- केवल उस रूप में संकलित/संगृहीत, सम्पादित करने वाले पश्चाद्वर्ती आचार्य अथवा स्थविर आदि हैं अर्थात् अंगबाह्य भी गणधरकृत का परिवर्तित रूप हो सकता है, पर उनकी रचना से निरपेक्ष नहीं।

भगवती शतक २५ उद्देशक ७ आदि से यह तो पूर्ण स्पष्ट है कि छेदोपस्थापनीय चारित्र वाले को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उभयकाल आवश्यक करना अनिवार्य है। उत्तराध्ययन के २६वें अध्ययन में आवश्यक का उल्लेख विद्यमान है, अंतगड के छठे वर्ग में भी सामायिक आदि ११ अंग सीखने का उल्लेख है तो चातुर्याम से पंचमहाव्रत में आने वालों का 'सपडिक्कमणं...' प्रतिक्रमण वाला शब्द... स्पष्ट द्योतित करते हैं कि तीर्थंकर की विद्यमानता में आवश्यक सूत्र था।

पूर्वों और अंगों की रचना करने में समय अपेक्षित है, मात्र दिन-दिन के समय में इनकी रचना संभव नहीं, उस समय भी सायंकाल और प्रातःकाल गणधर भगवन्त और उनके साथ दीक्षित ४४०० शिष्यों ने प्रतिक्रमण किया। विशेषावश्यक भाष्य में स्थविरकल्प क्रम में शिक्षा पद में सर्वप्रथम आवश्यक सीखने का उल्लेख है।

निशीथसूत्र उद्देशक १९ सूत्र १८-१९ आदि, व्यवहार सूत्र उद्देशक १० अध्ययन विषयक सूत्रों से भी सर्वप्रथम आवश्यक का अध्ययन ध्वनित होता है।

बिना जिज्ञासा प्रस्तुति के होने तथा पूर्वों की रचना के भी पूर्व तीर्थंकर प्रणीत होने से उसे अंगप्रविष्ट नहीं कहा जा सकता। अंग प्रविष्ट के अतिरिक्त अन्य अनेक सूत्र भी गणधर रचित मानने में बाधा नहीं, यथा आचारचूला को 'थेरा' रचित कहा- चूर्णिकार ने 'थेरा' का अभिप्राय गणधर ही लिया है। निशीथ भी इसी प्रकार गणधरों की रचना है, पर अनंग प्रविष्ट में आता है। अतः आवश्यक सूत्र को अंग में शामिल करना अनिवार्य नहीं।

सभी अंग कालिक होते हैं, यदि आवश्यक भी इसमें सम्मिलित किया जाता तो उभयकाल अस्वाध्याय में उसका वाचन ही निषिद्ध हो जाता- वह नो कालिक-नो उत्कालिक है- ज्ञान के अन्तिम ४ अतिचार आवश्यक सूत्र पर लागू नहीं होते, जबकि अंगप्रविष्ट के मूल पाठ (सुत्तागमे) पर लागू होते हैं। अतः अंगों से बाहर होने पर भी आवश्यक सूत्र के गणधरकृत होने में बाधा नहीं।

जिज्ञासा- अव्रती को प्रतिक्रमण क्यों करना चाहिये?

समाधान- नन्दीसूत्र में मिथ्याश्रुत के प्रसंग में-"...जम्हा ते मिच्छादिट्ठिआ तेहिं चेव समएहिं चोइया समाणा केइ सपक्खदिट्ठिओ चयंति।..." कई मिथ्यादृष्टि इन ग्रन्थों से (मिथ्याश्रुत से) प्रेरित होकर अपने मिथ्यात्व को त्याग देते हैं।

यह बड़े महत्त्व का उल्लेख है और इससे समझ में आता है कि गुरुदेव (आचार्यप्रवर श्री हस्तीमल जी म.सा.) प्रत्येक मत के अनुयायियों को स्वाध्याय की प्रेरणा क्यों करते थे। कतिपय लोग समझते 'गीता' पढ़ने आदि- मिथ्याश्रुत की प्रेरणा क्यों कर रहे हैं? आदि-आदि

उत्तराध्ययन के २८वें अध्याय में सम्यक्त्व के प्रसंग में क्रियारुचि का भी उल्लेख हुआ है; और जब सुदर्शन श्रमणोपासक के पूर्वभव में जंघाचरण संत के मुख से उच्चरित 'नमो अरिहंताणं' से पशु चराने वाले के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन के उत्कर्ष का वर्णन पढ़ते हैं- तब इस प्रश्न का उत्तर अपने आप प्राप्त हो जाता है।

मिथ्याश्रुत का स्वाध्याय मिथ्यात्व से छुटकारा दिला सकता है- तब प्रतिक्रमण (आवश्यक) तो सम्यक् श्रुत है- मिथ्यात्व-अव्रत आदि सभी आस्रवों का त्याग क्यों नहीं करा सकता? एक-एक पाठ को सुनने, सीखने से कितनों के भीतर व्रत ग्रहण की प्रेरणा जगती है। व्रत का स्वरूप ध्यान में आता है, फिर स्वीकृत व्रत को अच्छी तरह पाला जा सकता है। कदाचित् व्रत नहीं भी ले पाया- तब भी स्वाध्याय का लाभ तो मिल ही जाता है- परमेष्ठी विनय-भक्ति के साथ चतुर्थ गुणस्थानवर्ती भी कुछ निर्जरा का लाभ प्राप्त कर ही लेता है।

भूल से विस्मृत होने पर भी नवकार का श्रद्धापूर्वक स्मरण 'सेठ वचन परमाणं' वाक्य के जाप से चोर को सद्गति में ले जा सकता है तो प्रतिक्रमण प्रत्येक व्यक्ति को संसार से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करने वाला होने से जीव को मंजिल तक पहुँचाने वाला बन जाता है।

भात-पानी का विच्छेद किया हो, चोर की चुराई वस्तु ली हो, भण्ड कुचेष्टा की हो आदि कतिपय आचार अव्रती के जीवन को नैतिक बनने में सहकारी बनते हैं, जीवन में अच्छे संस्कारों का बीजारोपण करते हैं।

आगम तो ९ वर्ष वाले को व्रत का अधिकार देता है, किन्तु ४ साल ५ साल आदि के बच्चे को सामायिक व्रत पच्चक्खाते हैं-उपवास भी कराते हैं, प्रतिक्रमण भी सिखाते हैं, उसके पीछे हेतु? उसके संस्कार पवित्र होते हैं। भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशक २ से ध्वनित होता है ५ अणुव्रत लिये बिना भी अणुव्रत और ४ शिक्षाव्रत की आराधना हो सकती है। भगवती सूत्र शतक १७ उद्देशक २ में एक भी प्राणी के दण्ड को छोड़ने वाला एकान्त बाल नहीं कहा- अर्थात् श्रद्धा-विवेक सहित सामायिक पच्चक्ख कर प्रतिक्रमण करने वाला एकान्त अव्रती नहीं। सभी देव व नारक अव्रती हैं- तिर्यंच में भी व्रत बिना प्रतिक्रमण का प्रसंग नहीं। बिना अन्य व्रत लिये प्रतिक्रमण के समय सही समझपूर्वक श्रद्धा से सामायिक करने वाला अव्रती नहीं, व्रताव्रती है तथा उसका प्रतिक्रमण स्वाध्याय सहित ज्ञान-दर्शन-चारित्राचारित्र व तप के अतिचारों की विशुद्धि कराने वाला है। अतः अव्रती अथवा अव्रतीप्रायः एक व्रतधारी को भी प्रतिक्रमण करना उपयोगी ही प्रतीत होता है।

जिज्ञासा- प्रतिक्रमण के पाठ बोले बिना कोई अपनी भूल को स्वीकार कर उसमें सुधार का संकल्प ले तो क्या वह भी प्रतिक्रमण की श्रेणि में आता है?

समाधान- भगवतीसूत्र शतक २५, उद्देशक ७, औपपातिक सूत्र, स्थानांग सूत्र १०वाँ स्थान आदि में प्रायश्चित्त के १० भेद कहे गये हैं। जीतकल्प आदि व्याख्या-साहित्य में विशद विवेचन में उपलब्ध होता है कि किस-किस के प्रायश्चित्त में क्या-क्या आता है? आलोचना के पश्चात् दूसरा प्रायश्चित्त प्रतिक्रमण बताया गया। 'जं संभरामि जं च न संभरामि' से साधक स्मृत-विस्मृत भूल की निन्दा-गर्हा कर शुद्धि करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञाताधर्मकथा के प्रथम अध्ययन में मेघकुमार जी द्वारा भगवद्चरणों में नई दीक्षा, मृगावती जी द्वारा चन्दनबालाजी के उपालम्भ पर आत्मालोचन अथवा प्रसन्नचन्द्र राजर्षि द्वारा भीतरी युद्ध-औदयिक भाव से क्षायोपशमिक, क्षायिक भाव में लौटना भाव प्रतिक्रमण के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। अतः भूल स्वीकार कर, सुधार का संकल्प कर लेना आत्महितकारी है, भाव प्रतिक्रमण है और भूल ध्यान में आते ही साधक त्वरित शोधन कर लेता है। मध्यवर्ती २२ तीर्थंकर और महाविदेह क्षेत्र के 'ऋजु प्राज्ञ' साधकों के लिये भाव प्रतिक्रमण की सजगता के कारण उभयकालीन भाव सहित पाठोच्चारण रूप प्रतिक्रमण अनिवार्य नहीं माना गया- पक्खी, चौमासी या संवत्सरी को भी नहीं माना गया। ज्ञातासूत्र के पंचम अध्याय में शैलक जी की प्रमत्तता के निराकरण हेतु पंथक जी का चौमासी प्रतिक्रमण हेतु पुनः आज्ञा लेना, दोष निराकरण में समर्थ अस्थित कल्प वालों के प्रतिक्रमण का उदाहरण है। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के शासन में जड़ता, वक्रता आदि से उभयकाल प्रतिक्रमण भी आवश्यक है। केवल पाठोच्चारण को अनुयोगद्वार सूत्र द्रव्य प्रतिक्रमण बता रहा है- भूल सुधार की भावना सहित 'तच्चित्त तद्मन' आदि में ही भाव प्रतिक्रमण बता रहा है। प्रतिक्रमण का हार्द उपलब्ध हो जाता है- 'पडिक्कमणेणं वयछिद्दाणि पिहेइ'-

भूल- व्रत के छेद

सुधार- छिद्र आवरित करना, ढकना।

समस्त संवर, सामायिक, व्रत ग्रहण (पाप त्याग वाले व्रत) में 'तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि' अवश्यमेव ही आता है अर्थात् भूल एवं दोषयुक्त प्रवृत्ति को तिलांजलि देने पर ही व्रत प्रारम्भ हो सकता है और यह प्रतिक्रमण अनेक अवसर पर करता हुआ साधक आत्मोत्थान करता ही है- इसी का नाम भूल सुधार का संकल्प है और यह किसी अपेक्षा से प्रतिक्रमण है, हितकारी है।

पर इसकी ओट में अर्थात् इसे प्रतिक्रमण की श्रेणि में रखकर उभयकाल प्रतिक्रमण नहीं करना किंचित् मात्र भी अनुमत नहीं। भूल ध्यान में आते ही सुधार का संकल्प ले यथासमय प्रतिक्रमण में पुनः उस भूल का मिच्छामि दुक्कडं देकर किये हुए संकल्प को परिपुष्ट करना, सुदृढ़ करना सर्वोत्तम मार्ग है।

जिज्ञासा- कायोत्सर्ग का क्या तात्पर्य है?

समाधान- काया की ममता का त्याग। तप के १२वें भेद, आभ्यन्तर तप के अन्तिम भेद व्युत्सर्ग के प्रथम द्रव्य व्युत्सर्ग का पहला उपभेद- 'शरीर व्युत्सर्ग' है। इसे उत्तराध्ययन के २६वें अध्याय में 'सव्वदुक्खविमोक्खणं' कहा अर्थात् सम्पूर्ण दुःखों से छुटकारा दिलाने वाला माना। दुःख क्यों है? तो उत्तराध्ययन ६/१२ में शरीर की आसक्ति को दुःख का मोटा कारण कहा- आसक्ति छूटी, ममता मिटी और दुःख की संभावना घटी। अतः सुस्पष्ट हुआ कि शरीर की ममता की तिलांजलि कायोत्सर्ग है। भाव कायोत्सर्ग ध्यान को कहकर द्रव्य रूप से- नैसर्गिक श्वास, खाँसी आदि की आपवादिक अपरिहार्य क्रियाओं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को छोड़, काया के व्यापार को, चेष्टा को रोक, काया से ऊपर उठना कायोत्सर्ग है।

सो पुण काउस्सग्गो दव्वतो भावतो य भवति।
दव्वतो कायचेट्ठानिरोहो, भावतो काउस्सग्गो झाणं।।

-आवश्यक चूर्णि, आचार्य जिनदासगणि

प्रायः कायोत्सर्ग में २ ही प्रकार के कार्य का विधान है-

१. निज स्खलना दर्शन/चिन्तन

इच्छाकारेणं का कायोत्सर्ग एवं प्रतिक्रमण के पहले सामायिक आवश्यक में कायोत्सर्ग।

२. गुणियों के गुणदर्शन/कीर्तन

लोगस्स का कायोत्सर्ग (सामायिक पालते व प्रतिक्रमण का पाँचवां आवश्यक)

दशवैकालिक की द्वितीय चूलिका तो साधक को 'अभिक्खणं काउस्सग्गकारी' से कदम-कदम पर कायोत्सर्ग अर्थात् काया की ममता को छोड़ने की प्रेरणा कर रही है।

संक्षेप में समाधान का प्रयास है, विस्तृत विवेचना व्याख्या सहित ग्रन्थों में उपलब्ध है।

जिज्ञासा- वर्तमान में प्रत्याख्यान आवश्यक के अंतर्गत मात्र आहारादि का प्रत्याख्यान किया जाता है। दसों प्रत्याख्यान आहारादि के त्याग से ही संबंधित है। मिथ्यात्व, प्रमाद, कषायादि के त्याग का प्रयोजन इस आवश्यक से कैसे हल हो सकता है?

समाधान- जिज्ञासा में सबसे पहला शब्द है- 'वर्तमान'। यह केवल वर्तमान में ही नहीं, पूर्व से प्रचलित है। उत्तराध्ययन के २६वें अध्याय की गाथा ५१, ५२ में देखिए-

किं तवं पडिवज्जामि एवं तत्थ विचिंतए।
काउस्सग्गं तु पारित्ता वंदिऊण तओ गुरुं।।५१।।
पारिय काउस्सग्गो, वंदित्ताण तओ गुरुं।
तवं संपडिवज्जेत्ता करिज्जा सिद्धाण संथवं।।५२।।

स्पष्ट है पाँचवें आवश्यक में चिन्तन करके छठे आवश्यक में तप स्वीकार करें। रात्रिकालीन प्रतिक्रमण के पाँचवें आवश्यक में अपना सामर्थ्य तोले- क्या मैं ६ मास तप अंगीकार कर सकता हूँ? यदि नहीं, तो क्या ५ मास...? यावत् उपवास, आयंबिल....नहीं तो कम से कम नवकारसी उपरांत तो स्वीकार करूँ। देवसिक में चिन्तन बिना, छठे आवश्यक में गुणधारण किया जाता है। यह भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशक २ में वर्णित सर्वउत्तर गुण प्रत्याख्यान रूप होता है।

सर्व मूलगुण (५ महाव्रत), देश मूलगुण(५ अणुव्रत) व देश उत्तर गुण (३ गुणव्रत, ४ शिक्षाव्रत) चारित्र अथवा चारित्राचारित्र में आते हैं, जबकि देश मूल गुण तप में। उत्तराध्ययन की गाथा 'तप' का ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कथन कर रही है, अतः देश मूल गुण प्रत्याख्यान प्राचीन काल से प्रचलित है।

सम्यक्त्व ग्रहण करने के लिए किसी भी प्रत्याख्यान का आगम में उल्लेख नहीं। वर्तमान में अरिहंत मेरे देव, सुसाधु गुरु के द्वारा बोध प्रदान कर उपासकदशांग आदि के वर्णन द्वारा पुष्ट, हिंसाकारी प्रवृत्ति में प्रवृत्त सरागी देवों से बचने व कुव्यसन त्याग का ही नियम कराया जाता है। सम्यग् श्रद्धान एवं जानकारी पूर्वक ही सुपच्चक्खाण होते हैं।

साधक दो प्रकार के होते हैं- त्रिकरण त्रियोग से आगार रहित पाँच आस्रव का त्यागकर पाँच महाव्रत लेने वाले अथवा भगवती शतक ८ उद्देशक ५ के अनुसार ४९ ही भाँगों में से किसी के द्वारा पाँच अणुव्रत ले उनकी पुष्टि में ७ देश उत्तर गुण स्वीकार करने वाले। अर्थात् व्रत स्वीकार करने पर उसके पूर्ण भंग से पूर्व तक की स्खलना/त्रुटि/दोष/विराधना जो कि प्रायः अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार तक की श्रेणि की है- उनकी शुद्धि हेतु या व्रत-छिद्रों को ढाँकने के लिए प्रतिक्रमण किया जाता है। जिस प्रकार प्रतिक्रमण का सामायिक आवश्यक नवें व्रत की सामायिक से भिन्न है उसी प्रकार प्रत्याख्यान आवश्यक भी सामान्य प्रत्याख्यान (चारित्र अथवा चारित्राचारित्र) से भिन्न मात्र तपरूप ही है।

'नाणदंसणचारित्त (चारित्ताचारित्त) तव-अइयार-चिंतणत्थं करेमि काउस्सग्गं' 'देवसियपायच्छित्त-विसोहणत्थं करेमि काउस्सग्गं' आदि से भी यही ध्वनित होता है कि पूर्व गृहीतव्रतों की शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण किया जाता है। प्रथम आवश्यक में अतिचारों को ध्यान में ले, चौथे आवश्यक में मिथ्यादुष्कृत दें, व्रतों के स्वरूप को (श्रमण सूत्र या श्रावक सूत्र) पुनः स्मृति में ले, मिथ्यात्व, अव्रत को तिलांजलि देता हुआ दर्शन, ज्ञान, चारित्र (चारित्राचारित्र) में पुनः दृढ़ बनने का मनोबल जगाता हुआ छठे आवश्यक में अनशन आदि बाह्य तप स्वीकार करने के पूर्व पाँचवें आवश्यक में व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) रूपी आभ्यंतर तप करता है।

दसविध प्रायश्चित्त में तप के पश्चात् छेद, मूल का स्थान है, पर यहाँ तो वह प्रायश्चित्त रूपी तप भी नहीं, मात्र प्रथम के ३- आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभयरूपी प्रायश्चित्त में गुणधारण के रूप में तप अंगीकार किया जाता है। अतः मूलगुण के प्रत्याख्यान अलग समझ पूर्वक ग्रहण करने की व्यवस्था युक्तियुक्त है, जैसे अंतगड, अनुत्तरौपपातिक में सर्व मूलगुण व उपासकदशा में देश मूलगुण प्रत्याख्यान स्वीकार करने के दृष्टान्त हैं। मिथ्यात्व त्याग में खंधक जी (भगवती २/१), शकडालपुत्र जी (उपासक ७), परदेशी राजा (रायप्पसेणिय), सुमुख गाथापति आदि (सुखविपाक) के उदाहरण हैं, उन्हें बोधि प्राप्त हुई, तदनन्तर उन्होंने प्रत्याख्यान ग्रहण किये। अतः इस आवश्यक से मिथ्यात्व आदि के त्याग का संबंध नहीं, उनके छूटने पर ही सुपच्चक्खाण संभव है।

जिज्ञासा- प्रतिक्रमण में १८ पापों का पाठ बोला जाता है, किन्तु एक-एक पाप का स्मरण, अनुचिंतन और धिक्कार नहीं किया जाता। ऐसे किये बिना शुद्धि कैसे संभव है?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाधान- प्रथम गुणस्थान में देशनालब्धि के अंतर्गत 'नवतत्त्व' की जानकारी उपलब्ध होती है। पाप, आस्रव बंध हेय हैं, जीव-अजीव ज्ञेय हैं और पुण्य, संवर, निर्जरा, मोक्ष उपादेय हैं। 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' अन्तर का सही श्रद्धान होने पर पापों का स्वरूप ध्यान में आ जाता है, तब जीव सम्यग्दृष्टि बनता है। स्वाध्याय के द्वारा उनकी हेयता को परिपुष्ट कर धर्म-ध्यान के अपाय व विपाक विचय में उन पर विस्तृत चिन्तन, अनुप्रेक्षा, भावना के साथ चित्त की एकाग्रता भी हो जाती है। प्रतिक्रमण मुख्यतः 'नाण-दंसण-चरित्त (चरित्ताचरित्त) तव अइयार' से संबंधित है। श्रावक ने सीमित पापों का परित्याग किया और साधु ने संपूर्ण पापों का। उस त्याग के दूषण/अतिचारों की शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण है, जिनकी संख्या ९९, १२४ या १२५ है। भविष्य में पापों की हेयता ध्यान में रहे व भूल को भी सुधारूँ, इसलिए १८ पाप बोल दिये जातें हैं।

दूसरी अपेक्षा से देखें १८ पापों की व्यक्त प्रवृत्ति का प्रतिक्रमण करते हुए पापों का विस्तृत अनुप्रेक्षण ही तो किया जाता है। उदाहरणार्थ प्रारंभ के ५ पापों का तो व्रतों के अतिचारों में स्पष्ट विवेचन है ही। रोषवश गाढ़ा बंधन या क्रोधवश झूठ अतिचार कहने से छठा पाप (क्रोध) पहले अणुव्रत, दूसरे अणुव्रत में आ गया। लोभ का संबंध परिग्रह, उपभोग-परिभोग आदि में व लोभवश मृषा में स्पष्ट है। भाषा समिति में चारों कषाय, चौथे-पाँचवें महाव्रत में राग-द्वेष का संबंध पाठ से ही स्पष्ट है तो प्रतिक्रमण में भीतर के मिथ्यात्व से बचने के लिए 'अरिहन्तो महदेवो' का पाठ सर्वविदित है। नवमें व्रत में 'सावज्जं जोगं का पच्चक्खाण' और तीन बार 'करेमि भंते' का पाठ भी पाप से बचने, धिक्कारने का ही पाठ है।

प्राचीन काल में पाँचवें आवश्यक में लोगस्स के पाठ की अनिवार्यता ध्वनित नहीं होती। आज भी गुजरात की अनेक प्रतिक्रमण की पुस्तकों में धर्म-ध्यान के पाठ बोलने का उल्लेख मुम्बई में देखने को मिला। उत्तराध्ययन के २६वें अध्याय में तो 'सर्वदुःख विमोक्षक कायोत्सर्ग' करने का उल्लेख है फिर श्वास और उसकी गणना पूर्ति में लोगस्स का विधान सामने आया। हो सकता है 'अपाय-विपाक विचय' में वहाँ कृत पापों का पर्यालोचन होता हो। साधक प्रतिक्रमण के पूर्व अपने पापों को देख ले और उनसे संबंधित अतिचारों में उनकी आलोचना कर शुद्धि कर ले तभी भाव प्रतिक्रमण कर आत्मोत्थान कर सकता है। अतिचार प्रायः पाप का किसी स्तर तक अभिव्यक्त है। पाप सहित प्रतिक्रमण करने वाला उनका दुष्कृत करता, शुद्धि करता ही है। अनुयोगद्वार सूत्र में इसे ही भाव आवश्यक (निक्षेप) कहा है।

जिज्ञासा- पाप, अतिचार दोष सबके भिन्न होते हैं। अतः सामूहिक प्रतिक्रमण में उनकी आलोचना व्यक्तिगत रूप से संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में क्या सबको प्रतिक्रमण एकान्त में करना चाहिए?

समाधान- सर्वश्रेष्ठ तो यही है, इसीलिए महाव्रतधारी अपना-अपना प्रतिक्रमण अलग-अलग करते हैं। जिन श्रावकों को प्रतिक्रमण आता है उन्हें भी प्रायः यही प्रेरणा की जाती है। पूर्ण प्रतिक्रमण नहीं जानने वाले व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवल स्वाध्याय के लिए पर्युषण में आने वाले नवीन बंधुओं में धर्मरुचि जागृत करने, व्रत ग्रहण की भावना बढ़ाने के लिए जानकार भाई सामूहिक करा दें, विशेष जानकार अपना अलग प्रतिक्रमण करें, यह उचित है।

स्थान की समस्या होने पर सामूहिक करते हुए भी अपने-अपने अतिचारों के चिन्तन रूप प्रथम आवश्यक में मौन-ध्यान के साथ एकान्त हो ही जाता है। प्रथम आवश्यक में अपने-अपने ध्यान लिये हुए दोषों को चतुर्थ आवश्यक में सामूहिक उच्चारण में साधक अपनी जागृति के साथ तद्-तद् अतिचारों का अन्तर से मिथ्या दुष्कृत करता है और विस्मृत हो जाने से ध्यान नहीं रहे हुए शेष अतिचारों का भी मिच्छामि दुक्कडं करते शुद्धि करता है। स्तुति वंदना आदि में सामूहिक उच्चारण से वातावरण की पवित्रता के साथ भावों में भी उत्कृष्टता आती है, प्रेरणा भी जगती है अतः आत्म-साधना की इस प्रणाली को भी अनुपादेय कहना उचित नहीं। हाँ, पर सामूहिक पर ही एकान्त जोर दे, वैयक्तिक करने से रोकना युक्तिसंगत नहीं। संघ की शोभा-गौरव के लिए एक सामूहिक प्रतिक्रमण हो व वैयक्तिक करने वालों को अपनी साधना करने की स्वतंत्रता हो। अलग-अलग समूह में सामूहिक अधिक होने पर विडम्बना खड़ी हो सकती है।

जिज्ञासा- प्रतिक्रमण में कुछ अणुव्रतों के अतिचार की भाषा में ऐसे शब्दों का प्रयोग जो अनाचार व्यक्त करते हैं, क्यों हुआ है? जैसे चौथे व्रत में 'इत्तरिय गमणे' 'अपरिग्गहिय गमणे' इत्यादि। इन शब्दों से भ्रान्ति न हो, इस हेतु इन शब्दों की जगह यह प्रयोग क्यों न किया जाय कि 'इत्तरिय गमणे' हेतु 'आलाप-संलाप किया हो' 'अपरिग्गहिय गमणे' हेतु 'आलाप-संलाप किया हो।' इसी तरह अन्य पाठों में भी अनाचार द्योतक शब्दों में सुधार/संशोधन क्यों न किया जाय?

समाधान- व्रत भंग की ४ अवस्थाएँ बताई जाती हैं-

अतिक्रम इच्छा जानिये, व्यतिक्रम साधन संग।
अतिचार देश भंग है, अनाचार सर्व भंग।।

अर्थात् एक ही कार्य/इरादा/प्रवृत्ति किस अभिप्राय से किस स्तर की है इससे व्रत भंग की अवस्था का निर्णय होता है। महाबली जी (मल्ली भगवती का पूर्वभव) और शंखजी की क्रिया समान थी, पर परिणाम बिल्कुल भिन्न। महाबली जी माया के कारण संयम से गिरकर पहले गुणस्थान में चले गए और शंखजी सरलता के कारण भगवद् मुखारविन्द से प्रशंसित हुए।

प्रायः सभी व्रतों के अतिचार अभिप्राय पर निर्भर करते हैं। अन्यथा वे अनाचार भी बन सकते हैं- भूलचूक से सामायिक जल्दी पारना तो अनाचार ही है।

अतिचार से भी बचने के लिये प्रेरणा देते हुए, जाणियव्वा न समायरियव्वा कहा जाता है। यदि मारने की भावना से बंधन या वध किया गया और वह जीव बच भी गया तो अनाचार ही होगा- अतः अतिचार और अनाचार में शब्द की अपेक्षा नहीं भाव की अपेक्षा भेद रहता है। बार-बार अतिचार का सेवन स्वयं ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनाचार बन जाता है।

प्रमादवश लोक प्रचलित रूढ़ियों से जिन्हें अनैतिक नहीं माना जाता, ऐसी बातों को भी धार्मिक दृष्टि से अतिचारों में रखकर चेतावनी दी गई, जैसे- कन्या के अन्तःपुर में रखी जाने वाली कन्या सगाई होने पर भी अपरिगृहीत है(आज केयुग में धड़ल्ले से चल ही रहा है) अब यदि उसे छोड़ ही दिया जाता तो व्यक्ति को उसमें कुछ भी अनाचार-अतिचार ध्यान में नहीं आता। अतः उन-उन बिन्दुओं का समावेश करना, कितनी सुन्दर व्यवस्था है।

अनाचार का कथन स्पष्टतः तो है नहीं। व्यक्ति सामाजिक परिवेश में उसे गलत भी नहीं मानता। जैसे- सस्ता माल खरीदना, रेल में बच्चे की उम्र कम बताना, आयकर में अन्यथा प्रतिवेदन देना आदि-आदि अतिचारों में सम्मिलित कर महर्षियों ने स्पष्ट रूपरेखा तो दिखा दी, संक्लिष्ट परिणामों से करने पर प्रायः सभी अतिचार अनाचार हैं। नासमझी, भूल, विवशता आदि कारणों से ये अतिचार हैं, व्रत की शुद्धि के लिये ये भी त्याज्य हैं।

जिज्ञासा- बड़ी संलेखना में मात्र अपने धर्माचार्य को ही नमस्कार किया है, अन्य आचार्यों व साधु-साध्वियों को क्यों नहीं?

समाधान- शरीर की अशक्तता, रुग्णता, वृद्धावस्था, आकस्मिक उपसर्ग, आतंक आदि कारणों में संलेखना संथारा किया जाता है। उस समय भी 'नमोत्थुणं' सिद्ध-अरिहन्त को देकर अपने धर्माचार्य-धर्मगुरु के विशिष्ट उपकार होने से उन्हें यथाशक्य विधिपूर्वक वन्दना की जाती है। सभी साधुओं को वंदना कर पाने के सामर्थ्य की उस अवस्था में कल्पना करना कैसे युक्ति संगत समझा जा सकता है। किसी को करे किसी को नहीं तो क्या पक्षपात या रागद्वेष की संभावना नहीं। अब ५०० साधु, ५० साधु या १०-२०-२५ जितने भी हों, उन्हें वन्दना कैसे कर पायेगा, अतः समुच्चय सभी से क्षमायाचना माँग लेता है। प्रायः संथारा मृत्यु की सन्निकटता में पच्चक्खाया जाता है। अतः उतना समय भी नहीं है, इसलिये सामान्य व्यवस्था यही कर दी गई। सुदर्शन, अर्हन्नक आदि के समक्ष उपसर्ग उपस्थित है, अल्पावधि में भी सिद्ध-अरिहन्त को नमस्कार करके यथा शीघ्र पच्चक्खाण करते हैं। तब सभी साधुओं को वंदना कैसे संभव है। वर्तमान में अधिकतर संथारे के पच्चक्खाण में तो व्यक्ति मात्र लेटा-लेटा सुनता रहता है वो नमोत्थुणं या गुरुओं की वंदना भी विधिपूर्वक नहीं कर पाता है। वर्तमान व्यवस्था पर जाएँ, तीन वंदना कर लें तो भी उत्तम है।

जिज्ञासा- आवश्यक सूत्र को बत्तीस आगमों में सम्मिलित किया गया है। क्या हरिभद्रसूरि को आवश्यकसूत्र का रचयिता माना जाता है? यदि यह सही है तो उनसे पूर्व प्रतिक्रमण किस प्रकार किया जाता था?

समाधान- श्वेताम्बर परम्परा पूर्वधरों की रचना को आगम स्वीकार करती है। स्थानकवासी व तेरापंथी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परम्परा में १० पूर्वी तक की समस्त रचना (वि.नि.५८४ तक) तथा पश्चाद्वर्ती पूर्वी (वी.नि.१००० तक) की वह रचना जो १०पूर्वी तक की रचना की विरोधी नहीं है- आगम में स्वीकृत है। २४वें तीर्थंकर के शासनवर्ती साधु को उभयकाल प्रतिक्रमण अनिवार्य होने से आवश्यक सूत्र तीर्थंकर के समय में भी विद्यमान था।

हरिभद्रसूरि का समय वी.नि.१२२७ से १२९७ तक (वि.७५७ से ८२७) है। जबकि द्वितीय भद्रबाहु ने वी.नि.१०३२ में आवश्यक निर्युक्ति-जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने वी.नि. १०५५-१११५ में विशेष आवश्यक भाष्य व जिनदास महत्तर ने वी.नि. १२०३ में आवश्यक चूर्णि की रचना की। तत्पश्चात् हरिभद्रसूरि ने 'शिष्यहिता वृत्ति' नामक आवश्यक सूत्र की टीका लिखी, जिसमें निर्युक्ति, भाष्य व चूर्णि तीनों का उपयोग हुआ।

जिज्ञासा- प्रतिक्रमण का प्रथम आवश्यक सामायिक है। सामान्यतः सामायिक ग्रहण करने के पश्चात् ही प्रतिक्रमण की आज्ञा ली जाती है। इस स्थिति में पहले आवश्यक 'सामायिक' की क्या आवश्यकता है? यदि करेमि भंते के पाठ से भी सामायिक हो जाती है तो सामायिक लेते समय विधि करने की क्या उपयोगिता है?

समाधान- सामायिक की साधना नवमें व्रत की आराधना है, जबकि आवश्यक सूत्र की उपादेयता सामायिक सहित सभी व्रतों के लगे अतिचारों की शुद्धि करने में है। रेल की यात्रा में नवमें व्रत की आराधना अर्थात् १८ पाप के त्याग रूपी संवर साधना नहीं हो सकती जबकि आवश्यक सूत्र के सभी आवश्यक यानी सामायिक भी आवश्यक हो सकता है। वहाँ प्रथम आवश्यक में कायोत्सर्ग अर्थात् काया की ममता छोड़कर अतीत के अतिचारों का चिन्तन किया जाता है, उस कायोत्सर्ग की भूमिका में 'करेमि भंते' का पाठ बोल वर्तमान निर्दोषता में पूर्व के दोषों का आलोकन संभव होना ध्वनित किया जाता है। अतः सामायिक में विधि करना अनिवार्य है और कायोत्सर्ग की भूमिका में 'करेमि भंते' का पाठ बोल प्रथम सामायिक आवश्यक में सामायिक का पच्चक्खाण करने के लिए नहीं, अपितु 'समता की भूमिका में समस्त पापों की शुद्धि संभव' पर आस्था रखकर अतिचार खोजना उपयोगी है। दोनों अलग-अलग है।

जिज्ञासा- लोगस्स के पाठ के संबंध में दिगम्बर परम्परा के ग्रंथ में प्रतिपादित किया गया है कि लोगस्स की रचना कुन्दकुन्दाचार्य ने की है। उसको पढ़ने से ज्ञात होता है कि प्रथम पद को छोड़कर सभी पद एक-दो शब्दों के परिवर्तन के अलावा समान ही हैं। क्या आवश्यक सूत्र में प्राप्त लोगस्स का पाठ कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित है?

समाधान- दिगम्बर ग्रन्थों में शौरसेनी प्राकृत का उपयोग हुआ है जबकि श्वेताम्बर वाङ्मय अर्धमागधी भाषा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में है। अतः दिगम्बर का लोगस्स मूल होने का प्रश्न ही नहीं और फिर कुन्दकुन्दाचार्य तो बहुत बाद में हुए, गणधर प्रणीत वाङ्मय अति प्राचीन है। लोगस्स ही क्या, कितने ही अन्यान्य सूत्र गाथाओं में समानता है, पर इससे उनका मौलिक और श्वेताम्बरों का अमौलिक नहीं कहा जा सकता है।

जिज्ञासा- खमासमणो का पाठ उत्कृष्ट वंदना के रूप में मान्य है। तिक्खुत्तो के पाठ को मध्यम वन्दना तथा 'मत्थएण वंदामि' को जघन्य वंदना कहा गया है, किन्तु आगम में जहाँ कहीं भी तीर्थंकर भगवन्तों और संतों को वन्दना का वर्णन आया है वहाँ तिक्खुत्तो के पाठ से वंदना का उल्लेख है। जब तीर्थंकर भगवन्तों को तिक्खुत्तो से वन्दना की जाती है तो उत्तम वन्दना किसके लिए? मत्थएण वंदामि का भी क्या औचित्य है?

समाधान- उत्कृष्ट वंदना, मध्यम वंदना और जघन्य वंदना- यह आगम में नहीं है। वहाँ तो द्रव्य-भाव आदि का भेद है। यह पश्चाद्वर्ती महापुरुषों की प्रश्नशैली की देन है। भावपूर्वक करने पर तीनों ही आत्महितकारी हैं। उत्कृष्ट वंदना उभयकाल होती है, जो प्रत्येक प्रतिक्रमण में ३६ आवर्तन सहित भाव विभोर करने वाली है। सामान्य रूप से भी यदि आप श्रमण सूत्र (उपाध्याय अमरमुनि जी) में इसका अर्थ व विवेचन पढ़ेंगे तो भाव विभोर हुए बिना नहीं रह सकते।

आवश्यक की वन्दना के लिए भी तीन बार तिक्खुत्तो से वंदना की जाती है, अस्तु उत्कृष्ट और मध्यम वंदना अपेक्षा से कहना अयुक्त नहीं।

नमस्कार सर्वपाप प्रणाशक है, वंदामि से वंदना गृहीत होती है, अतः नमस्कार को वंदना नहीं कहा। यूँ तो लोगस्स, नमोत्थुणं भी स्तुति, भक्ति, विनय के ही सूत्र हैं, पर वंदना में सम्मिलित नहीं। अस्तु नवकार, भक्ति, स्तुति को वंदना में नहीं कह, 'मत्थएण वंदामि' के शब्दों की अल्पता से जघन्य में कह दिया।

प्रायः 'नमंसामि वंदामि' एकार्थक भी हैं, साथ-साथ होने पर काया से नमस्कार व मुख से गुणगान अर्थ करना होता है। संस्कृत में मूलतः 'वदि-अभिवादनस्तुत्योः' (To Bow down and to praise) धातु से वंदामि शब्द बनता है। अतः इस एक में दोनों 'स्तुति और नमस्कार' सम्मिलित हैं। तिक्खुत्तो में भी दोनों बार अलग-अलग अर्थ कर इन दोनों को सूचित किया है। अतः बड़ी संलेखना में उसे 'नमोत्थुणं' शब्द से गुणगान सहित नमस्कार कह दिया गया।

जिज्ञासा- चत्तारि मंगलं का पाठ क्या गणधर भी बोलते थे?

समाधान- आवश्यक सूत्र के सभी पाठ आवश्यक के रचनाकार (सूत्रकार) की रचना होने चाहिए। जब वह गणधर प्रणीत है- छेदोपस्थापनीय चारित्र धारक को उभयकाल करना अनिवार्य है, तो गणधर भगवन्त भी दोनों समय आवश्यक (प्रतिक्रमण) करते समय मांगलिक भी बोलेंगे ही।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिज्ञासा- श्रमण सूत्र के तैंतीस बोल के चौथे बोल में 'पडिक्कमामि चउहिं झाणेहिं' बोला जाता है तथा अन्त में मिच्छामि दुक्कडं दिया जाता है। आर्त्त-रौद्र ध्यान का मिच्छामि दुक्कडं तो समझ में आया, किन्तु धर्मध्यान और शुक्लध्यान का अतिचार कैसे?

समाधान- आर्त्त और रौद्र ध्यान के करने से तथा धर्म और शुक्ल ध्यान के न करने से जो भी अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण (मिच्छामि दुक्कडं) करता हूँ।

आगम की शैली है- जैसे श्रावक प्रतिक्रमण में- इच्छामि ठामि में- तिण्हं गुत्तीणं चउण्हं कसायाणं... का अर्थ भी तीन गुप्तियों के नहीं पालन व चार कषायों के सेवन का प्रतिक्रमण करना ही समझा जाता है।

इस ३३ बोल में ३ गुप्ति, ब्रह्मचर्य की नववाड़, ग्यारह श्रावक प्रतिमा, १२ भिक्षु प्रतिमा, २५ भावना, २७ अणगार गुण व ३२ योग संग्रह आदि में धर्म-शुक्ल ध्यान के समान नहीं करने से, नहीं पालने से का मिच्छामि दुक्कडं है, जबकि अनेक में उनके सेवन का व कइयों में श्रद्धान प्ररूपण विपरीतता का मिच्छामि दुक्कडं है।

जिज्ञासा- ब्रह्मचर्य की नववाड़ के सातवें बोल में दिन-प्रतिदिन सरस आहार नहीं करने की बात कही गई है। जबकि उत्तराध्ययन के १६वें अध्ययन तथा समवायांग के ९वें समवाय की जो गाथा दी गई है उसमें दिन-प्रतिदिन का उल्लेख नहीं है? इस परिवर्तन का क्या उद्देश्य हो सकता है? वैसे भी आगम की गाथा का तोड़-मरोड़ कर अर्थ नहीं करना चाहिये।

समाधान- उत्तराध्ययन सूत्र के १७वें अध्याय की १५वीं गाथा में 'दुद्ध-दही विगईओ, आहारेइ अभिक्खणं....' में प्रतिदिन विगय के सेवन करने वाले को पापी श्रमण कहा है। समवायांग सूत्र 'तित्थयराइं' गाथा ३१

उसभस्स पढमभिक्खा खोयरसो आसि लोगनाहस्स।
सेसाणं परमण्णं अमियरसरसोवमं आसि॥

२३ तीर्थंकरों का प्रथम पारणक अमृतरस के समान खीर से होना बताया। अंतगड़ सूत्र के ८वें वर्ग में रानियों (साध्वियों) के तप में सर्वकामगुण अर्थात् विगयसहित प्रथम परिपाटी के पारणे कहे हैं और भी अनेकानेक आगम कथा साहित्य के दृष्टान्त भरे पड़े हैं। अतः अर्थ में आगमसम्मत उल्लेख समाविष्ट कर दिया गया। यह तोड़-मरोड़ कर अनुवाद करना नहीं, अपितु भावों का युक्तिसंगत प्रस्तुतीकरण है। अन्यथा तीर्थंकर सहित ये सभी महान् आत्माएँ विराधक सिद्ध हो जायेंगी। महान् अनर्थ हो जायेगा। अविनय आशातना से कर्मबंध हो जायेगा।

जिज्ञासा- ३३ बोल श्रमणसूत्र का ही एक भाग है उसके उपरान्त भी ३३ बोल के हिन्दीकरण करने की क्या आवश्यकता है?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाधान- हिन्दी क्या अब तो अंग्रेजी में भी अनुवाद करना पड़ेगा। समय-समय पर प्रचलित भाषा में विवेचन करना अनुपयुक्त कैसे? पहले संस्कृत में था, आज गुजरात में गुजराती में है, शेष स्थानों पर हिन्दी में है। मूल सुरक्षित है, प्रतिक्रमण में उसे ही बोलते हैं, शेष विवेचन, मात्र उचित ही नहीं, उपादेय व उपयोगी भी है।

जिज्ञासा- भाव वन्दना में पहले पद में केवल तीर्थंकर भगवन्तों को वन्दना की गई है या केवली भगवन्तों का भी समावेश किया गया है। यदि पहले पद में केवली भगवान् का समावेश नहीं किया गया है तो कौनसे पद में किया गया है? यदि पाँचवें पद में किया गया है तो वे साधु के समकक्ष नहीं होते हैं। यही कारण है कि शिष्य को केवलज्ञान होने पर उनके कंधे पर बैठे हुए गुरु को केवली की आशातना का पश्चात्ताप हुआ।

समाधान- इधर की परम्परा प्रथम पद में ही बोलती है, अतः शेष समाधान पाँचवें पद में बोलने वालों से प्राप्त करना उचित होगा।

जिज्ञासा- 'वोसिरामि' के स्थान पर 'वोसिरे' शब्द का प्रयोग कहाँ तक उचित है?

समाधान- स्वयं को जब प्रत्याख्यान करना हो तो 'वोसिरामि' शब्द बोला जाता है तथा दूसरे को प्रत्याख्यान कराते समय 'वोसिरे' शब्द का प्रयोग किया जाता है। मान लीजिए, कोई उपवास माँग रहा है, कराने वाले को तो करना नहीं, 'वोसिरामि' बोलने से 'मैं वोसराता हूँ'- स्वयं के त्याग हो जायेगा। अतः दूसरे को त्याग कराने हेतु व्याकरण की दृष्टि से 'वोसिरे' शब्द का प्रयोग उचित है।

तीर्थंकर भगवन्त आदि दीक्षा का प्रत्याख्यान करते समय 'वोसिरामि' नहीं बोल सकते। स्वयं की दीक्षा में 'वोसिरामि' बोलते हैं। जब दीक्षा प्रदाता तीर्थंकर भगवन्त सैकड़ों-हजारों मुमुक्षुओं को दीक्षा प्रदान कर सकते हैं तो पच्चक्खाण में 'वोसिरे' बोलने में क्या आपत्ति?

जिज्ञासा- स्थानकवासी परम्परा में दो प्रतिक्रमण के सम्बन्ध में क्या धारणा है?

समाधान- प्रमुखतया तीन प्रकार की परिपाटी चल रही है- १. तीन चौमासी और एक संवत्सरी- इन चार दिवसों में दो प्रतिक्रमण करना। २. केवल कार्तिक चौमासी को दो प्रतिक्रमण करना। ३. दो प्रतिक्रमण कभी नहीं करना।

जिज्ञासा- इस विविधता का क्या हेतु है?

समाधान- ज्ञाताधर्मकथा के पाँचवें अध्याय में शैलक राजर्षि जी को पंथकजी ने कार्तिक चौमासी के दिन दैवसिक प्रतिक्रमण में जागृति प्राप्त नहीं होने पर चातुर्मासी प्रतिक्रमण की आज्ञा ली, परिणामस्वरूप प्रमाद का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिहार कर शैलक जी शुद्ध विहारी बने।

जिज्ञासा- इससे तीन मत कैसे बने?

समाधान- १. प्रथम मत कहता है कि आगम में दो प्रतिक्रमण के विधि-निषेध का उल्लेख नहीं है। चरित्र के अन्तर्गत आए उल्लेख को स्वीकार कर कार्तिक चौमासी को दो प्रतिक्रमण करने चाहिए। चार माह तक एक स्थल पर रहने से प्रमाद (राग) विशेष बढ़ सकता है, उसके विशेष निराकरण के लिए दो प्रतिक्रमण करना चाहिए। शेष दो चौमासी व संवत्सरी का आगम में कहीं भी उल्लेख नहीं है, अतः उनमें नहीं करना चाहिए।

२. दूसरे मत का कथन है कि जब एक चौमासी को दो प्रतिक्रमण किये तो बाकी दो चौमासी को भी करना चाहिए और संवत्सरी चौमासी से बड़ी है, तब तो अवश्य करना चाहिए।

३. तीसरा मत कहता है कि आगम में विधिपूर्वक कहीं उल्लेख नहीं है। बीच के २२ तीर्थंकरों के शासन व महाविदेह क्षेत्र में सामायिक चारित्र होता है, अस्थित कल्प होता है। छेदोपस्थापनीय चारित्र व स्थित कल्पी प्रथम व अन्तिम जिन के शासन में ही चौमासा व प्रतिक्रमण आदि कल्प (मर्यादा) अनिवार्य होते हैं। बीच के तीर्थंकरों की व्यवस्था से अन्तिम तीर्थंकर के शासन की व्यवस्था भिन्न होती है, अतः एक ही प्रतिक्रमण करना चाहिए।

जिज्ञासा- तो दो प्रतिक्रमण करने में, अधिक करने में नुकसान क्या है ?

समाधान- नहीं, आगम के विधान से अधिक करना भी दोष व आगम आज्ञा का भंग है, प्रायश्चित्त का कारण है। अच्चक्खरं का दोष 'आगमे तिविहे' के पाठ में है और इसी प्रकार की क्रिया के सम्बन्ध में भी उल्लेख है।

दूसरी बात फिर कोई कह सकता है- पक्खी को भी दो प्रतिक्रमण होने चाहिए। चौमासी को देवसिय, पक्खी व चौमासी- ये तीन होने चाहिए। आगम (उत्तराध्ययन अ.२६) स्पष्ट ध्वनित कर रहा है कि पोरसी के चतुर्थ भाग (लगभग ४५ मिनिट) में प्रतिक्रमण हो जाना चाहिए। चौमासी-संवत्सरी को अधिक लोगस्स का कायोत्सर्ग होने से प्रायः कुछ समय अधिक हो जाता है।

जिज्ञासा- जब कुछ अधिक हो ही जाता है तो फिर ३० मिनिट और अधिक होने में क्या नुकसान है ?

समाधान- 'काले कालं समायरे' के आगम कथन का उल्लंघन होता है। साथ ही उत्तराध्ययन के २६वें अध्याय की टीका, यति दिनचर्या आदि से स्पष्ट है कि सूर्य की कोर खंडित होने के साथ प्रतिक्रमण (आवश्यक) की आज्ञा ले। सामान्य दिन इस विधान का पालन किया जाता है। विशिष्ट पर्व चौमासी और संवत्सरी को तो और अधिक जागृति से पालना चाहिए। पर उस दिन दो प्रतिक्रमण करने वालों का यह विधान कितना निभ पाता है, समीक्षा योग्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिज्ञासा- तो क्या दो प्रतिक्रमण करना आगम विरुद्ध है?

समाधान- पूर्वाचार्यों ने अनेक विवादास्पद स्थलों पर 'तत्त्वं तु केवलिनो विदन्ति' करके अपना बचाव किया है। हम भी किसी भी विवाद में उलझना नहीं चाहते।

जिज्ञासा- पर आपका कोई ना कोई दृष्टिकोण तो होगा ही?

समाधान- हाँ, वो तो रखना ही होगा। गुरु भगवन्तों की कृपा से, आगम वर्णन से- कैशी गौतम संवाद।

कालास्यवेषिक अणगार आदि पार्श्वनाथ भगवान् के अनेक साधु, भगवान् महावीर के शासन में आए, उन्होंने ५ महाव्रत के साथ प्रतिक्रमण वाले धर्म को स्वीकार किया, ऐसा आगम स्पष्ट कर रहा है। अर्थात् २४वें तीर्थंकर के शासन की व्यवस्था मध्यवर्ती तीर्थंकरों के शासन से स्पष्ट अलग है, अतः मध्यवर्ती का कथानक यहाँ वर्तमान में लागू नहीं किया जा सकता।

शैलकजी को पंथकजी ने प्रतिदिन भी प्रमाद परिहरण के लिए प्रतिक्रमण कराया होगा, पर फिर भी वे सफल नहीं हो पाए। अतः चौमासी को उन्होंने विशेष प्रयास किया और उसमें सफलता मिल गई। इसी प्रकार विशेष दोष पर साधक अलग से आलोचन, प्रतिक्रमण आज भी करता है। पर सामान्य जीवन-चर्या में, साधना में एक प्रतिक्रमण की बात उचित प्रतीत होती है, अतः हम चौमासी व संवत्सरी को भी एक ही प्रतिक्रमण करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org